

साहित्य और विमर्श  
(आधी आबादी के सन्दर्भ में )

17

सौरभ कुमार\*

स्त्री-विमर्श में मूलतः दो शब्द आधारभूत हैं 'स्त्री' और 'विमर्श'। स्त्री-विमर्श, स्त्री-जीवन का विमर्श है। जिसमें पुरुष-प्रधान समाज में उसकी हैसियत, अधिकार, अस्मिता तथा अस्तित्व को लेकर चिंतन मिलता है। स्त्री-विमर्श वस्तुतः स्त्री को व्यक्ति के अथवा मानव के रूप में देखने की अपेक्षा करता है जिसमें न लिंग भेद के लिए स्थान है और न वर्चस्व के लिए। समानता, आत्मनिर्भरता, स्वतंत्रता, वर्चस्व और बंधनों से मुक्ति ही स्त्री-विमर्श के आधार स्तम्भ कहे जा सकते हैं। वस्तुतः स्त्री-विमर्श का उदय लिंगभेद के आधार पर निर्मित विषमता को तिलांजलि देने और मानवतापूर्ण व्यवहार को आदरांजलि देने के प्रयोजन से हुआ है। स्त्री-विमर्श एक व्यापक संकल्पना है जो नारीवाद के एक अंग के रूप में उभर कर आई है। प्रस्तुत शोध-पत्र में 'नारी-विमर्श' या 'स्त्री-विमर्श' दोनों शब्द एक दूसरे के समानार्थ-वाहक रूप में ही प्रयुक्त किए जा रहे हैं क्योंकि वर्तमान काल में विमर्श के साथ 'स्त्री' या 'नारी' दोनों शब्दों का ही प्रयोग दृढ़ता के साथ किया जा रहा है। साहित्य और विमर्श का अन्तःसम्बन्ध है क्योंकि साहित्य लिखता है और विमर्श लेखन के विभिन्न पहलुओं पर बहस करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विभिन्न पहलुओं पर बहस करने पर कुछ ऐसे विचार उदभूत हो जाते हैं जो साहित्यकार को लिखने के लिए प्रेरित करते हैं और कभी साहित्यकार सीधे ही विमर्श के प्रचार के लिए लिखता है। स्त्री के संदर्भ में इतनी गंभीर और विषम परिस्थितियों में स्त्री-विमर्श अत्यन्त प्रासंगिक बन गया है क्योंकि स्त्री-विमर्श द्वारा ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रों जैसे सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक आदि में स्त्री की स्थिति का गहन चिन्तन कर गलत पारम्परिक धारणाओं के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द की जा सकती है। 'विमर्श' मूलतः गहन-गंभीर विचार चिंतन का पर्याय है। नामवर सिंह के मत में "विमर्श का मतलब किसी एक वस्तु के बारे में लोगों के बातचीत करने के तरीके या सोचने की पद्धति से है। ये तरीके मिलजुल कर लोगों की सामान्य धारणा को बनाते हैं।"<sup>1</sup> विमर्श हमें वस्तुस्थिति को स्वीकार करने की बजाए वैकल्पिक रास्तों की खोज करने को प्रेरित करता है। विचारधारा का जन्म इसी खोज के भीतर से होता है, जैसे दलित-विमर्श अथवा स्त्री-विमर्श।

\*शोधार्थी, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़, पी.एच.डी. हिन्दी शोध केन्द्र, एस.सी.डी. राजकीय महाविद्यालय, लुधियाना

विमर्श हमें वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के बजाए वैकल्पिक रास्तों की खोज करने को प्रेरित करता है। विचारधारा का जन्म इसी खोज के भीतर से होता है, जैसे नारी-विमर्श अथवा दलित-विमर्श। यह विमर्श जब नारी के साथ जुड़ता है तब नारी का नारी होने के नाते सहे हुए आघातों से मुक्ति तथा मनुष्य के रूप में अपनी पहचान बनाने की जद्दोजहद की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। आज स्त्री-विमर्श को हर क्षेत्र में, हर कोण से देखा जा रहा है। सप्जन में, सत्ता में अथवा दर्शन में स्त्री-विमर्श की पहचान अलग-अलग प्रकार से है। मण्णाल पांडे के अनुसार "अगर विचार करना है तो स्त्री के संदर्भ में नहीं, शक्ति के संदर्भ में भी विचार करना होगा। क्योंकि मूलतः जो पीड़ा है वह शक्ति के असंतुलित वितरण से उपजी विभिन्न प्रकार की विसंगतियों एवम् कष्टों को लेकर है।"<sup>2</sup>

स्त्री-विमर्श ने हजारों वर्षों से चले आ रहे पितृसत्तात्मक विमर्श, सिद्धान्तों, प्रतिमानों को चुनौती दे दी है, क्योंकि वे सिद्धान्त पुरुष द्वारा निर्मित हैं। उनसे स्त्री पाठ को नहीं समझा जा सकता। स्त्री-विमर्श ने ही पितृसत्तात्मक सिद्धान्तों में निहित उन प्रचंड अन्तर्विरोधों, विरोधाभासों को सामने रखा है जो स्त्री विरोधी हैं। "पुरुष कभी भी स्त्री-विमर्श को खुले मन से स्वीकृति नहीं देता। सीमोन द वोउवार, बैटी फरीडन, जूडिथ बदर, जूलिया क्रिस्टवा, गायत्री चक्रवती, स्वीपवाक आदि स्त्री लेखिकाओं ने उस पितृष्क साहित्य शास्त्र सिद्धान्तों में इन अन्तर्विरोधों को सामने रखा है तथा पितृष्क सिद्धान्तों में निहित विरोधाभासों को तोड़ते हुए स्त्री-विमर्श को प्रासंगिक बनाया है।"<sup>3</sup>

स्त्री-विमर्श स्त्री को उसके अधिकारों व दायित्वों के प्रति जागरूक करता है। "जब तक नारी केवल नारी है, व्यक्ति नहीं, तब तक वह पुरुष की दासता के लिए अभिशप्त है।"<sup>4</sup> इस बात को परिचित कराने का दायित्व भी स्त्री-विमर्श निभाता है। यदि स्त्री-मुक्ति और स्त्री-अस्मिता की बात स्त्री-विमर्श करता है तो, "जिस दिन समाज स्त्री-शरीर का नहीं, उसकी मेधा और श्रम का मूल्य देना सीख जायेगा सिर्फ उस दिन स्त्री मनुष्य के रूप में स्वीकृत होगी।"<sup>5</sup> स्त्री की मानव रूप में प्रतिष्ठा कराना स्त्री-विमर्श के कारण ही सम्भव होगा, तभी तो साहित्य में भी केन्द्र में स्त्री-विमर्श और समाज पर पड़ने वाले उसके प्रभावों को देखकर यह अनुभव किया जाने लगा है कि साहित्य केवल समाज का दर्पण ही नहीं होता वरन् उसमें समाज को बदलने की क्षमता भी होती है।

"साहित्य समाज के नैतिक सत्य की चिंता है। लेकिन जहाँ समाज में सही दिशाओं के चिंतन के बदले परिणामों की त्वरता हावी होने लगती है, वहाँ साहित्य और समाज दोनों के रिश्ते की क्षमता क्षीण होती है। फिर भी, साहित्य समाज की

दूरगामी वर्षत्तियों का न केवल प्रतिरोधक बल है, बल्कि रक्षक तत्त्व भी है। यही कारण है कि इतनी कशमकश के बाद भी यह रिश्ता कायम रहता आया है, चाहे समाज उन तत्त्वों से लबालब भरा हो, जो साहित्य विरोधी है।<sup>6</sup> यदि समाज किसी बेहतर संसार की परिकल्पना की माँग साहित्य से करता है तो साहित्य को उन जटिलताओं, विद्रूपताओं, संश्लिष्टताओं आदि से उलझना पड़ेगा, जिनका समाज विरोध करता है; क्योंकि उनसे उलझे या जूझे बिना यह उस स्तर पर नहीं पहुँच सकता। चूँकि संघर्ष में सफलता तभी प्राप्त होती है, जब वह अपनी जमीन पर अपने साधनों का प्रयोग करके किया गया हो। इस दृष्टि से हिन्दी कथा-साहित्य में स्त्री-विमर्श भी इसका अपवाद नहीं है। हिन्दी साहित्य में उभरने वाला स्त्री-विमर्श, इन सभी विचारधाराओं को लेकर चलता है। इसमें स्त्री की आज़ादी, स्वायत्तता, आत्मनिर्भरता, अस्मिता, स्वचेतना, संघर्ष, विरोध तथा विद्रोह की बात की जाती है। "मुझे नहीं लगता है कि स्त्री की स्थिति को किसी के भी साथ समीकृत किया जा सकता है। सम्बन्ध के धरातल पर स्त्री-पुरुष एक ऐसा विलक्षण समीकरण है कि उसका कोई इस्तेमाल नहीं।"<sup>7</sup> स्त्री-विमर्श पुरुष के प्रति शत्रुता अथवा प्रतिस्पर्धा की भावना नहीं है। यह एक स्वस्थ मानवीय दृष्टिकोण है। "नारी-विमर्श कतई स्त्रियों को वृहत्तर समाज से अलग-थलग रखकर देखने और हर क्षेत्र में पुरुषों के खिलाफ उन्हें प्रोत्साहित करने का दर्शन नहीं है यह तो समग्र दृष्टिकोण है।"<sup>8</sup>

समाज की परम्परा, समाज का आर्थिक-राजनीतिक ढाँचा, सांस्कृतिक-धार्मिक आधार और सामाजिक संगठन के दूसरे अंग जैसे साहित्य, कला, कानून, काम-धंधा, शिक्षा, प्रचार के साधन प्रशासनिक ढाँचा, वर्ग-संघर्ष, जातियाँ तथा परिवार आदि हिल-मिलकर मनुष्य की चेतना का निर्माण करते हैं। सामाजिक यथार्थ के प्रति हमारा रवैया, हमारी विचारधारा, मान्यताएँ तथा आकर्षण, इच्छाएँ और कल्पनाएँ स्पष्ट रूप से हमारी जीवन-यथार्थ सम्पृक्त आवश्यकताओं की जटिल प्रक्रिया पर निर्भर हैं। स्थिति और संघर्ष चेतना के स्वरूप तथा प्रभाव को विस्तृत या सीमित करते हैं। सामाजिक व्यवस्था यदि समय के साथ नहीं बदलती तो व्यवस्था और समाज दोनों का पतन निश्चित है। विश्व परिदृश्य में सम्पूर्ण मानवीय समाज का स्वरूप बदल रहा है। समय बदल चुका है और साथ ही नारी की स्थिति भी। अब वह घर की चारदीवारी में कैद शर्मीली सहमी हुई अबला नहीं है। अब वह जमाना लद गया, जब पुरुष स्त्री के साथ जूती जैसा सलूक किया करता था, जब चाहा पैर में डाल लिया और जब चाहा उतार फेंका। कई सदियों से अपने ऊपर होने वाले अन्याय के विरुद्ध उसने अपनी आवाज़ मुखर की है, उसकी यह आवाज़ उसके लिए नये सपनों की मंज़िल ले कर आयी है, जहाँ वह अपने बारे

में सोच सकती है, निर्णय ले सकती है। आज नारी का जीवन गतिशील हो गया है। वह जाग चुकी है और स्त्री-विमर्श स्त्री की इसी जागृति का विमर्श है।

स्त्री-विमर्श का इतिहास काफी प्राचीन एवम् पारम्परिक रहा है। मीरा का सम्पूर्ण काव्य पुरुष वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष का ज्वलंत उदाहरण है। आधुनिक में महादेवी वर्मा की 'श्रृंखला की कड़ियाँ' ने 1942 में स्त्रीवादी लेखन की नींव रखी। काल साहित्य में नारी-विमर्श की स्थिति पर विचार किया जाए तो विशेषकर हिन्दी महिला साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में नारी शिक्षा, सामाजिक सुधार, नारी का वैचारिक जागरण, संवेदना एवं चेतना के अनुरूप माहौल प्रदान करके महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समाज की यह धारणा है कि स्त्री जीवन के विभिन्न आयामों और प्रसंगों-परिस्थितियों को जिस आत्मीयता एवं संवेदना के साथ एक स्त्री समझ सकती है, उसका अध्ययन-अनुशीलन कर सकती है, उतना संभवतः पुरुष नहीं। एक स्त्री होने के नाते उन्होंने स्त्री जीवन को देखा, भोगा, समझ कर महसूस किया, तत्पश्चात् अपने कथा-साहित्य में उसे रूपायित किया। अपने कथा-साहित्य में आज की नारी के विभिन्न चेहरों को उघाड़कर, उसके संस्कारों की परतों को खोलकर जिस सत्य का उद्घाटन किया है, वह जहां एक ओर नारी जीवन के कटु यथार्थ का परिचय देता है, वहीं दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्रता एवं अस्मिता की रक्षा करने, अपने पाँव पर खड़ा होने और समाज की एक सशक्त इकाई बनने के लिए उसके मन की हलचल, विद्रोह-यातना और संकल्पशक्ति को भी उजागर करता है। इन्होंने अपने साहित्य में नारी को भारतीय समाज के परिवर्तित परिवेश के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा है। यही कारण है कि उनकी नारी-दृष्टि उनके कथा-साहित्य में पूर्ण सजीवता के साथ प्रकट हुई है। उनकी नारी-दृष्टि सहज व स्वाभाविक-सी जान पड़ती है। कर्षत्रिमता लेश मात्र भी नहीं।

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास में नर-नारी का समान योगदान है। नारी के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। नारी के संयोग से ही संसार आगे बढ़ता है। नारी हमेशा से पुरुष की प्रेरणा रही है। नारी पुरुष को निराशा के क्षणों में आशा देती है, दुःख में दिलासा देती है और उसके कर्म में उत्साह भरती है। स्त्री न केवल पुरुष की उपजीवी रही बल्कि पुरुष ने अन्य आश्रित जनों की तुलना में उससे बहुत अधिक प्रतिदान भी चाहा। अन्यों के लिए जीना और सर्वस्व न्योछावर करना तथा काम्य पुरुष से इतर किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति उदासीन रहना नारी के गुण बताए गए। नारी की सत्ता की दृष्टि से तो साहित्य उसके स्वत्व का समर्थ व्याख्याकार रहा है। जिस प्रकार दर्पण दीपक की लौ प्रत्येक लपट को प्रतिबिम्बित करता है, उसी प्रकार साहित्य भी अपने युग के प्रत्येक स्पन्दन को

अभिव्यक्त करता है।

साहित्य में भी नारी का चित्रण समाजानुकूल ही हुआ है। साहित्य में नारी का चित्रण आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक विविध रूप में रहा है। रीतिकाल में नारी मात्र भोग्या, विलास की वस्तु थी। भारतेंदु युग में नारी-समस्या से नारी-महिमा तक का वर्णन मिलता है। द्विवेदी युग में नारी में वेदना, ममता, करुणा, त्याग और दायित्व बोध की भावभीनी अभिव्यक्ति मिलती है। छायावाद युग में नारी मात्र प्रियतमा नहीं बल्कि देवी, माँ, सहचरी तथा प्राण भी रही ठे और प्रगतिवाद उसे देवता रूप से अलग कर मानवी रूप प्रदान करता है। कवियों के कंठ से भारत की जय के साथ-साथ नारी की जय भी सुनाई पड़ी। बंकिम, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरतचंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला आदि ने भारतीय नारी की महिमा को वाणी दी। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिन्दी कथा-साहित्य में नारी जीवन को लेकर, जिस प्रकार की रचनाएं लिखी गई हैं, वे स्त्री के प्रति सम्पूर्ण चिंतन प्रक्रिया को बदलने की क्षमता रखती हैं। स्त्री-लेखन का प्रधान लक्ष्य इस कालखण्ड में स्त्री-विमर्श रहा है। हिन्दी महिला साहित्यकारों-लेखिकाओं ने विकसनशील समाजोपयोगी लेखन के माध्यम से हिन्दी साहित्य जगत् को समृद्ध किया है।

नारीत्व की अवधारणा से जुड़ा साहित्य-सृजन दोहरे धर्म को निभाता है। एक धर्म है- यातना के उद्घाटन का और दूसरा धर्म- प्रतिरोध और संघर्ष का। इसी मान्यता पर चलकर अनेक लेखिकाओं ने साहित्य के माध्यम से सशक्त व महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है जिनमें प्रमुख हैं - ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, कष्णा अग्निहोत्री, मधुला गर्ग, मष्णाल पाण्डे, क्षमा शर्मा, कष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, सूर्यबाला, शशिप्रभा शास्त्री, राजी सेठ, कुसुम अंसल, नासिरा शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, इन्दु बाली, मृदुला सिन्हा, मालती जोशी इत्यादि। साहित्य में नारी-विमर्श की स्थिति पर विचार किया जाए तो यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि इस विमर्श ने पुरातन, पारंपरिक, सामाजिक ढाँचों को तोड़ा है, नारी के संबंध में नूतन चेतना को प्रासंगिकता के साथ प्रवाहित किया है और इस सामाजिक व्यवस्था में गतिशीलता प्रदान की है।

आज जिस स्त्री-विमर्श की चर्चा बार-बार की जा रही है उसकी नींव भी पश्चिम के नारी-मुक्ति आन्दोलन से जुड़ी है। वहाँ नारी-मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत सन् 1920 में समान अधिकार के मुद्दे को लेकर हुई जो बाद में नौकरी के क्षेत्र में, घरेलू कार्यकलापों में, कानूनी संबंधों में और सांस्कृतिक प्रथाओं के साथ-साथ मूलभूत लैंगिक समानता के एक आमूल परिवर्तनवादी आन्दोलन के रूप में उभरकर आई। स्त्री-विमर्श पितृसत्ता के हिंसक व्यवहार, प्रहार, दुर्व्यवहार करने

वाली मानसिकता पर विचार करता है। स्त्री-विमर्श स्त्री के आमूल-चूल बदलाव पर विचार करता है। स्त्री-विमर्श एक पूर्ण व्यक्तित्व विमर्श है। वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श को एक शास्त्र के रूप में भी अपनाया जा रहा है। मृणाल पांडे इसे दर्शन के रूप में देखती हैं – “आज नारीवाद हमारे यहाँ एक अपरिचित या त्याज्य दृष्टिकोण नहीं बल्कि एक सार्थक स्वीकृत समग्र दर्शन के रूप में स्वीकार्य हो चला है।”<sup>9</sup> हिन्दी में स्त्री-चेतना और स्त्री-दृष्टि की चर्चा की शुरुआत भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में स्त्रियों की सक्रिय सांझेदारी, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आत्मसजगता तथा आलोचनात्मक दृष्टि के जागरण और आधुनिक हिन्दी साहित्य में रचनाकार के रूप में महिलाओं के आगे आने के साथ होती है। हिन्दी साहित्य में बड़ी संख्या में रचनाकार और आलोचक के रूप में स्त्रियों के आने और सक्रिय होने के साथ स्त्री-चेतना के महत्त्व की पहचान और स्वतंत्र स्त्री-दृष्टि पर चर्चा होने लगी है।

वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श स्त्री को ‘मानवी’ रूप में प्रस्तुत कर उसके समस्त अधिकारों को प्राप्त करा देने की पहल करता है। स्त्री-जीवन की निजता का बोध यहाँ प्रमुख रूप में उपस्थित है। नारी मुक्ति सही मायने में तभी होगी जब उसे सामाजिक अधिकार प्राप्त होगा। नारी-मुक्ति आंदोलन के कारण आज नारी-समाज को बदलने के प्रयास में कदम उठा रही है। इसमें नारी का समाज में स्वतंत्र रूप से विचरण करना तथा अपनी अलग अस्मिता को बनाए रखने के साथ-साथ राजनैतिक, कानूनी, पारिवारिक तथा आर्थिक इन समस्त अधिकारों को प्राप्त कर लेने की संकल्पना निहित है।

### (Footnotes)

- <sup>1</sup> यादव राजेन्द्र (संपा.), ‘हंस’, नामवर सिंह के साक्षात्कार से, अगस्त 2004, पृ० 195
- <sup>2</sup> खेमानी कुसुम (संपा.), ‘वागर्थ’, मृणाल पांडे के लेख से, दिसम्बर 2003, पृ० 88
- <sup>3</sup> कुमार राकेश, ‘नारीवादी विमर्श’, पंचकूला (हरियाणा), आधार प्रकाशन, प्र सं० 2001, द्वि० सं० 2004, पृ० 75
- <sup>4</sup> रजवार डॉ० शीला, ‘स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में नारी के बदलते संदर्भ’, दिल्ली, इस्टर्न बुक लिंकर्स, पृ० 74
- <sup>5</sup> नसरीन तसलीमा, ‘औरत के हक में’, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, सं० 1995, पृ० 99
- <sup>6</sup> वधान, डॉ० अमर सिंह, ‘भाषा साहित्य और संस्कृति: दिल्ली: भावना प्रकाशन, प्र.सं-2003, पृ० 116
- <sup>7</sup> यादव राजेन्द्र (संपा.), ‘हंस’, अर्चना वर्मा के साक्षात्कार से, अगस्त 2004, पृ० 97
- <sup>8</sup> पांडे मृणाल, परिधि पर स्त्री, दिल्ली, राधा कृष्ण प्रकाशन, सं० 1998, पृ० 5
- <sup>9</sup> पांडे मृणाल, ‘परिधि पर स्त्री, दिल्ली, राधा कृष्ण प्रकाशन, सं० 1998, पृ० 47